उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—४ सितम्बर-अक्टूबर—१९८५ अंक—९-१०

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल, 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक संपादक

शिशिर कुमार मल्लिक

श्याम किशोर

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	२५० रु०
षट् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५५ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

तुम्हारे भीतर जो भाव हो, बाहर तुम्हारी वाणी भी उसी के अनुसार होनी चाहिए। मन और मुख एक होना चाहिए। यदि केवल तुम मुख से कहो कि 'भगवान् मेरे सर्वस्व हैं' पर मन ही मन संसार को ही सर्वस्व मानो तो इससे तुम्हें कुछ लाभ नहीं होगा।

(२)

जो जैसा चिन्तन करता है वह वैसा ही बन जाता है। भ्रमर का चिन्तन करते-करते झींगुर भी भ्रमर ही बन जाता है। इसी प्रकार सदा सच्चिदानन्द का चिन्तन करते रहने से मनुष्य सच्चिदानन्दस्वरूप ही हो जाता है।

(३)

चन्दामामा सभी बच्चों के मामा हैं। इसी तरह भगवान् भी सभी के हैं। उन्हें पुकारने का सभी को अधिकार है। जो कोई उन्हें पुकारता है वह उनके दर्शन प्राप्त कर धन्य हो जाता है। यदि तुम उन्हें पुकारो तो तुम्हें भी उनके दर्शन होंगे।

(४)

ईश्वर सब के भीतर हैं, परन्तु सब जन ईश्वर के भीतर नहीं हैं; इसी लिए उन्हें इतना दुःख भोगना पड़ता है।

श्रीरामकृष्ण

(श्रीरामकृष्णदेव पर रचित बंगला गीतों के अनुवाद)

–श्रीमत् स्वामी आत्मानन्द
सचिव,
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर ।

(प्रेमानन्दे मन रे गाओ रामकृष्ण नाम.....का अनुवाद)

प्रेमानन्द से मन रे गाओ रामकृष्ण नाम ।
भजो रामकृष्ण नाम जपो रामकृष्ण नाम,
नाम-सुधा पी के रहो मत्त अविराम ।।१।।

कामारपुकुर बना पुण्य ब्रजधाम,
वहाँ सखा ले के प्रभु ने की लीला अविराम ।
(मेरे) मन-दर्पण में भासित होवे, वह छवि सुठाम ।।२।।

नमो-नमो चन्द्रादेवी नमो खुदिराम,
कृपामयि माँ जननी लो मेरे प्रणाम ।
जयरामबाटी की मिट्टी चन्दन समान
वहाँ माता की है जन्मभूमि महातीर्थ स्थान
माँ के चरण में शरण ले के होवें पूर्णकाम ।।३।।

तुलसीदास

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी।

महापुरुषों के जीवनेतिहास एवं चरित्र तथा उनके उपदेशों, कृतियों एवं साहित्य के अध्ययन द्वारा उनकी महानता को आंका जाता है। यही विधि हम तुलसीदास जी के विषय में भी प्रयोग कर सकते हैं।

महाकवि तुलसीदास जी ने एक वृहत् साहित्य की रचना की है, जिसमें रामचरितमानस सर्वश्रेष्ठ बृहत्तम एवं सबसे लोकप्रिय है। तुलसीदास कृत इस विशाल साहित्य के अध्ययन की भी दो दिशाएँ, दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं। पहली विधि रामचरितमानस के प्रवचनकारों की है, जो तुलसीदास जी लिखित प्रत्येक पंक्ति को वेद-वाक्य की तरह सामाजिक एवं गूढ़ तात्पर्य पूर्ण महामंत्र स्वीकार कर अपनी सामर्थ्यानुसार उसकी विस्तृत व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। उनके अध्ययन के अनुसार तुलसीदास जी एक महान् संत, मंत्रद्रष्टा ऋषि हैं। वे एक महान् दार्शनिक, समाज सुधारक एवं समाज को नयी दिशा प्रदान करने वाले युगाचार्य हैं। उत्तर काण्ड के मानस-रोग प्रसंग में मानव मन के दुर्गुणों एवं उनके सूक्ष्म, छद्म रूपों का वर्णन करते समय तुलसीदास जी एक महान् मनोविज्ञ एवं साधकों के मन को समझने, एवं उसके दोषों का ईलाज बताने वाले सुदक्ष आचार्य प्रतीत होते हैं।

सगुण-निर्गुण, रूप-अरूप, ब्रह्म के इन विभिन्न रूपों का समन्वय करते हुए तो वे सर्वत्र दिखाई देते हैं। भगवान् राम के जन्म के समय माता कौशल्या सर्वप्रथम भगवान् का चतुर्भुज रूप में दर्शन करती है—"लोचन अभिरामा तनु घनश्यामा, निज आयुध भुज चारी।"—फिर स्तुति करते हुए वे भगवान् को अनन्त, तथा "मायागुन ग्यानातीत अमाना वेद पुरान भनंता।" कह कर संबोधित करती है और अन्त में वे ही ब्रह्मस्वरूप भगवान् माँ के कथन पर बालक बन रुदन करने लगते हैं।—कितने सुन्दर ढंग से ब्रह्म के निर्गुण-निराकार, सगुण साकार एवं मानवी लीला करने वाले अवतारी रूप का तुलसीदासजी ने समन्वय किया है।

भगवान् राम के माध्यम से ब्रह्मर्षि वशिष्ठ और एक क्षुद्र निषाद का मिलन कराकर; अपने सहायकों के रूप में वानरों एवं भालुओं को चुनवाकर, यही नहीं, राक्षस कुल के विभीषण को आश्रय प्रदान करवाकर तुलसीदास जी ने कितना महान् सामाजिक सन्तुलन बनाने का, मतभेद मिटाने का प्रयत्न किया। ज्ञान और भक्ति का अद्भुत संगम तो रामचरित मानस के प्रत्येक पृष्ठ पर पाया जा सकता है।

तुलसी साहित्य के अध्ययन की दूसरी विधि है उन साहित्यकारों एवं भाषाविदों की जो एक निष्पक्ष निरीक्षक के रूप में उसका अध्ययन करना चाहते हैं। उनमें तुलसीदासजी के प्रति भावुक लगाव नहीं, और न ही उन्हें वे मंत्रद्रष्टा ऋषि या संत मानते हैं। वे तुलसी साहित्य को अपनी गवेषणा या Research का विषय बनाकर उसके गुण अथवा दोषों का अध्ययन करना चाहते हैं। ऐसे निष्पक्ष समालोचकों की दृष्टि में भी तुलसी साहित्य खरा ही उतरता है। वे इसमें पाते हैं एक उच्चतम साहित्य की समस्त विशेषताएँ। दोहा, चौपाई, सोरठा आदि नाना प्रकार के छन्द, करुण, हास्य, मृदु, शृंगारादि भाषा के समस्त रस, रूपक, उपमा, यमक अलंकार आदि इसमें प्रचुर मात्रा में हैं। उच्चतम विचार एवं भावों का प्रभावशाली सम्पादन तो है ही। इसी कारण विश्व के महान् मनीषियों ने गहन

अध्ययन के बाद रामचरितमानस को भारत की ही नहीं, विश्व की एक महान् कृति का गौरव प्रदान किया है।

जब हम इस महान् साहित्यकार, सन्त एवं समाज सुधारक के जीवन एवं चरित्र के अवलोकन में प्रवृत्त होते हैं, तो हमें निराशा ही हाथ लगती है। भारतीय मन सदा ही इतिहास के प्रति उदासीन रहा है। भारतीय संस्कृति के निर्माता ऋषिगणों ने अपनी साधना उपलब्धि में अपने व्यक्तित्व को इतनी अधिक मात्रा में विस्तृत कर दिया था कि आने वाली पीढ़ियों को युगों तक मार्गदर्शन प्रदान करने वाले शाश्वत सत्यों का आविष्कार कर उपदेश देते हुए भी उन्होंने अपने नाम का उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा। उपनिषदों को पढ़ जाइए! यत्र-तत्र याज्ञवल्क्य भृगु आदि दो एक ऋषियों के नामों के उल्लेख के अतिरिक्त इस विशाल उच्चतम भावराशि के उपदेशक का आप कहीं नाम ही नहीं पायेंगे। उनके जीवन वृतान्त की आपकी जिज्ञासा की पूर्ति की तो कोई सामग्री ही आपको नहीं मिलेगी। यही बात तुलसीदास जी के विषय में भी सत्य है। भगवान् श्रीराम के लोक कल्याण कारी जीवन एवं चरित्र का जन साधारण में प्रचार करना ही तुलसीदास जी का अभीष्ट था, स्वयं ख्याति लाभ करना नहीं। इसलिए न तो उन्होंने स्वयं अपने जीवन-वृत्तान्त का कभी वर्णन किया और न ही सिद्धान्तों में ही रुचि रखने वाले, इतिहास के तथ्यों के प्रति उदासीन भारतीय मन ने उसे जानने का प्रयत्न किया। परिणामस्वरूप तुलसीदास जी की कोई भी प्रामाणिक जीवनी आज उपलब्ध नहीं है। परवर्ती काल में विभिन्न लोगों द्वारा प्रचलित मान्यताओं की सहायता से रचित जीवनियों में परस्पर इतना मतभेद है कि किसी को भी प्रामाणिक मानना सम्भव नहीं है। और इसके साथ जुड़ गयी हैं किंवदंतियाँ, अस्वाभाविक अतिशयोक्तियां एवं चमत्कारों की घटनाएँ। बाल्यकाल में माता-पिता के स्नेह से वंचित वैष्णव साधु-सम्प्रदाय के संरक्षण में पालित, यौवन में पत्नी रत्नावली के प्रति अति मात्रा में अनुरक्त युवक का उसकी झिड़की से वैराग्यवान होकर संसार त्याग, गुरु कृपा, काशी गमन तथा साधना, भगवत् प्रेरणा से रामचरितमानस की रचना, हनुमान जी की कृपा से भगवान् राम के दर्शन अन्तिम काल में काशी में वास एवं वहीं शरीर त्याग, यह है संक्षेप में तुलसीदास की जीवनी। इतनी संक्षिप्त होते हुए भी उनके चरित्र को समझने के लिए ये घटनाएं पर्याप्त हैं।

एक विचारक, एक जिज्ञासु के मन में प्रश्न उठ सकता है कि तुलसीदास जी की महानता का क्या रहस्य है? एक अत्यंत सामान्य, अनाथ, निर्धन, स्त्री-आसक्त युवक महाकवि कैसे बन गया? उसे समझने के लिए हमें यह जानना होगा कि कवि किसे कहते हैं—वास्तविक कवि कौन है? कवि शब्द का अर्थ 'सर्वज्ञ' होता है, तथा उपनिषद् एवं गीता में यह शब्द ईश्वर के लिए प्रयुक्त हुआ है:

'कविर्मनीषिः परिभूः स्वयंभूः—
ईशावास्योपनिषद् ८

तथा 'कविं पुराणमनुशासितार'
(गीता ८।९)

मंत्रद्रष्टा ऋषि भी कवि कहलाते हैं। क्योंकि अतीन्द्रिय सत्य की साक्षात् अनुभूति होने पर कविता का स्वतः स्फूर्त उद्भव होता है। उपनिषदों को उठाकर देखिए। मंत्रद्रष्टा ऋषियों के मुख से अन्तः प्रेरणा के दिव्य क्षणों में अनायास फूट पड़ने वाले उदात्त काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्त होगा। यथा:

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

अर्थात् वहाँ न सूर्य प्रकाशित है न चन्द्र व तारागण। वहाँ विद्युत भी नही चमकती, अग्नि की कौन कहे! उसके प्रकाशमान होते हुए ही सबकुछ प्रकाशित होता

है। उसके प्रकाश से सबकुछ भासता है।

अथवा, ब्रह्म की महिमा को प्रकट करने की इस अभिनव शैली को ही देखिए:

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्या वेद यत्र सः॥

अर्थात्, जिस ब्रह्म के ब्राह्मण क्षत्रिय ओदन (भात) हैं, तथा मृत्यु जिसका उपसेचन (शाकादि) है, वह जहाँ है, उसे कौन जान सकता हैं।

परमात्मा की विभिन्न अभिव्यक्तियों का यह सुन्दर वर्णन ही ले लीजिए:

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवति विश्वतोमुखः॥

नीलः पतंगो हरितो लोहिताक्षस्तडिदार्भ ऋतवः समुद्राः!
अनादिमत्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानिभुवनानि विश्वा॥

अर्थात् तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कुमार हो, तुम्हीं कुमारी हो, तुम लाठी टेककर चलते वृद्ध हो, तुम ही विश्व में नाना रूप से जन्म लेते हो। (तुम ही) नीले रंग के हरे पंख के व लाल आँख वाले पक्षी हो, तुम ही विद्युत, ऋतु एवं समुद्र हुए हो। तुम अनादि होकर सर्वव्यापी रूप में विद्यमान हो जहाँ से समस्त भुवन एवं विश्व जन्मे हैं।

दस्यु रत्नाकर भी तीव्र संवेदना के एक क्षण में ही महाकवि बने थे और वाल्मीकि तथा तुलसी के जीवन में हमें कुछ सादृश्य भी दिखाई देता है। एक पूर्व जीवन में डाकू थे, तो दूसरे अत्यन्त स्त्री आसक्त। दोनों के जीवन में ही संसार तथा अपने प्रेम के पात्र से निराशा प्राप्त हुई थी तथा दोनों सत्संग एवं गुरु-कृपा से अपने प्रेम को भगवान् की ओर मोड़कर, महान् बन पाये थे।

कुछ लोगों की तो यह भी मान्यता है कि तुलसीदास जी महाकवि वाल्मीकि के ही अवतार थे, जो रामकथा की कालोपयोगी व्याख्या करने के लिए पुनः आविर्भूत हुए थे।

बाल्मीकि की कथा तो सर्वविदित ही है। न जानें कितने निरीह, निरपराध मानवों की निर्मम हत्या करने वाले पाषाण हृदय दस्यु को जीवन का तीव्रतम आघात उस समय लगा जब कुछ साधुओं के कहने पर वह अपने परिवार के सदस्यों के पास यह जानने के लिये जाता है कि क्या वे उनके पाप के भागी होंगे। माता-पिता, पत्नी सभी यह कहकर उसकी उतेक्षा करते हैं कि हमारा भरण-पोषण तुम्हारा कर्त्तव्य है, तुम्हारे कुकर्म में हम क्यों हाथ बँटावें। जिन लोगों के लिए वह ये जघन्य अपराध करता था, वे लोग ही उसके पाप के भागी नहीं होंगे। रत्नाकर की आँखें खुल जाती हैं। वे साधुओं के पास आकर अपने उद्धार का उपाय पूछते हैं। उनके उपदेशानुसार "मरा" मंत्र का जप करते हैं। एक ही स्थान पर जप करते करते उनके शरीर पर दीमकों ने एक वाल्मीक का निर्माण कर दिया, जिससे वे वाल्मीक कहलाये। अब वे दस्यु नहीं थे। वे एक महर्षि हो गये थे एक बार वन में एक शिकारी ने प्रेम-क्रीड़ारत एक पक्षी युगल पर निशाना लगाकर एक को मार डाला— जिससे बेचारा दूसरा पक्षी अपने मृत प्रिय की देह के चारों ओर आर्तनाद करता हुआ मँडराने लगा। यह देखकर ऋषि का हृदय करुणा से विगलित हो उठा तथा उनके कंठ से प्रथम कविता फूट पड़ी :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

लेकिन कविता सार्थक तभी हुई जब नारदजी के कथन पर उन्होंने राम कथा को महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया।

तुलसीदासजी भी, एक अत्यन्त संवेदनशील व्यक्ति

रहे होंगे। प्रत्येक मानव स्वाभाविक रूप से प्रेम देना तथा प्राप्त करना चाहता है। माता-पिता के प्रेम से वंचित अनाथ बालक तुलसी ने युवावस्था में उस प्रेम की पूर्ति पत्नी से करनी चाही होगी। और इसीलिए अपने समग्र हृदय से वे अपनी पत्नी रत्नावली से प्रेम करते थे लेकिन क्या मानव हृदय कभी मानवी प्रेम से संतुष्ट हो सकता है? सभी सांसारिक प्रेमों में कुछ-न-कुछ कटुता अप्रियता अवश्य रहती है। स्वार्थ गंधरहित पूर्ण निःस्वार्थ प्रेम संसार में दुर्लभ है। इस बात का अनुभव तुलसी को उस दिन हुआ जिस दिन घर लौटने पर उन्होंने अपनी पत्नी को वहाँ नहीं पाया—वह मायके चली गयी थी। क्षण मात्र के लिए भी विरह सहन करने में असमर्थ तुलसी उसी समय पत्नी से मिलने चल पड़े।

ऐसा कहा जाता है कि उस समय वर्षाकाल था तथा मेघाच्छादित अंधेरी रात थी। नौका न मिलने पर तुलसीदासजी ने उफनती नदी को एक बहते हुए शव के सहारे पार किया। आधी रात को जब वे ससुराल पहुँचे तब घर के दरवाजे बन्द थे। बिल में घुसते, दीवार से लटकते एक सांप के सहारे वे अपनी पत्नी के पास पहुँचे। शव के सहारे नदी पार करना, तथा सर्प को पकड़ कर ऊपर पहुँचना, कवि-कल्पना मात्र हो सकती है, लेकिन तुलसीदासजी की तत्कालीन मनःस्थिति के सन्दर्भ में ये पूर्ण रूप से उपयुक्त हैं। ये दोनों मानो प्रेम के आवेग में सामाजिक विधि निषेध, तथा मृत्यु के भय की उनके द्वारा पूर्ण उपेक्षा के प्रतीक हैं। सामाजिक शिष्टता के अनुसार तो दिन को नौका की सहायता से नदी पार कर ससुराल पहुँचना उचित होता। फिर दीवार फांदकर अन्दर जाने के बदले, घर का दरवाजा खटखटाना चाहिए था। पर यह सब तुलसीदासजी ने नहीं किया।

पत्नी से उन्होंने प्रेमपूर्ण व्यवहार की अपेक्षा की होगी। लेकिन उस बेचारी मानवी की अपनी सीमाएँ एवं सामाजिक मान्यताएँ थीं। उसे तो लग रहा था कि कल लोग क्या कहेंगे।—पति की आसक्ति के लिए उसे कितने व्यंग सहने होंगे। अतः वह झिड़क कर कह देती है: "इस हाड़-मांस के शरीर के प्रति तुम्हें इतनी आसक्ति है। इससे आधी भी यदि भगवान के लिए होती तो तुम मुक्त हो जाते। पत्नी की यह बात तो उसकी सुनी सुनायी बात थी—वह तो केवल तुलसी को लज्जित करना चाहती थी। लेकिन जो प्रतिक्रिया हुई, उसकी उसे स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी। अपने तीव्रतम प्रेमाकर्षण के ऐसे रूखे प्रतिदान की तुलसी को अपेक्षा नहीं थी। वे मर्माहत हो उठे। लगा सचमुच इस संसार में भगवान के अतिरिक्त अपना और कोई नहीं है। किसी दूसरी स्त्री की ओर भी उन्होंने अपना मन नहीं मोड़ा। वे अपने समग्र प्रेम को भगवान की ओर दिशा प्रदान करने में समर्थ हुए थे। यही है, तुलसी की सफलता का प्रथम रहस्य या सोपान।

अगला कार्य जो तुलसीदासजी ने किया वह था, संसार त्याग कर संन्यासी होना। वे काशी चले गये तथा सद्गुरु से राममंत्र में दीक्षित हो भगवन्नाम जप की साधना करने लगे। अन्त में वे हनुमानजी की कृपा से भगवान राम के दर्शन पाकर धन्य हुए।

तुलसीदासजी के जीवन की उपर्युक्त कतिपय घटनाओं का विश्लेषण करने पर हम उनके चरित्र की तीन विशेषताएँ देख पाते हैं। उनकी आसक्ति की तीव्रता, इस आसक्ति को पूर्ण रूप से भगवान की ओर मोड़ने की क्षमता तथा संसार से वैराग्य। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि ईश्वर के लिए व्याकुल होने पर भगवान के दर्शन होते हैं। सती का पति के प्रति प्रेम, माता का सन्तान के प्रति प्रेम, विषयी का विषय के प्रति प्रेम—इन तीनों को मिलाकर भगवान के प्रति करने पर भगवान के दर्शन होते हैं। तुलसीदासजी का जीवन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। और यही है उनके कवित्व का, उनकी महानता का रहस्य। संसार से विमुख हो वे समग्र शक्ति, प्रेरणा एवं ज्ञान के अखण्ड

स्रोत परमात्मा के साथ स्थायी सम्पर्क स्थापित करने में सफल हुए थे। श्रीरामकृष्ण की भाषा में जिस प्रकार अनाज के भंडार में एक व्यक्ति अनाज तौलकर बेचता जाता है, और दूसरा व्यक्ति पीछे से अनाज की राशि आगे ठेलता जाता है और उसे समाप्त नहीं होने देता उसी प्रकार जिस व्यक्ति ने परमात्मा से सम्पर्क स्थापित कर लिया है, उसकी ज्ञान-राशि कभी समाप्त नहीं होती, वह भगवान द्वारा निरन्तर पूरी होती रहती है। तुलसीदासजी भी अपनी महान कृतियों का श्रेय स्वयं नहीं लेते। वे स्वयं को अनादिकाल से चली आ रही, भगवान शिव द्वारा कही गयी रामकथा के आवृतिकार मात्र कहते हैं। अतः कोई भी व्यक्ति, यदि वह अहंकार एवं संसारासक्ति त्याग कर प्रेरणा, ज्ञान एवं शक्ति के अनन्त भांडार—परमात्मा के साथ सम्पर्क स्थापित करे तो वह भी तुलसीदासजी की तरह महान हो सकता है।

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी माधवानन्द

प्रस्तुति—स्वामी शशांकानन्द

बेलुड़ मठ।

[रामकृष्ण मिशन कनखल में ५ अप्रैल १९६४ ई० को स्वामी विवेकानन्द जी की प्रतिमा का अनावरण करते हुए रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के तत्कालीन अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी माधवानन्द जी द्वारा हिन्दी में दिया गया भाषण जिसे स्वामी शशांकानन्द ने लिपिबद्ध किया है। —सं०]

मैं यहाँ एक पुण्यकार्य में शामिल होने को आया था और सोचा कि स्वामी जी की मूर्ति का अनावरण कर इसी स्मृति को लेकर लौट जाऊँगा। फिर पता लगा कि मुझे बोलना भी है।

सचमुच स्वामीजी क्या थे, उनमें क्या था, इसे गुरु महाराज ने जाना था। जब वे कॉलेज में पढ़ रहे थे तभी श्रीरामकृष्णजी के पास गये जिन्होंने यह पहचाना कि 'नरेन्द्र' को महामाया का कार्य करना है। जिस 'नरेन्द्र' ने ईश्वर कठोर है आदि-आदि दिल्लगी की थी उसी ने ४-५ वर्ष में ही वेदान्त का महान उपदेश दिया। श्रीरामकृष्ण जानते थे कि 'नरेन्द्र' साधारण व्यक्ति नहीं थे।

एक समय जब उनके पिता की मृत्यु हो चुकी थी, घर-गृहस्थी का सारा भार उनके कंधे पर आ पड़ा। नौकरी कहीं न मिली। धन समाप्त हो गया। यहाँ तक कि खाने के लिए घर में अन्न का दाना भी न रहा। माँ-बहन भूख से व्याकुल हो गयीं और स्वयं को तो खाना खाये न जाने कितने दिन व्यतीत हो गये, तब अपनी माता के आदेशानुसार नरेन्द्र, श्रीरामकृष्णजी के पास गये और भवतारिणी माँ से उसके लिए धन माँगने के लिए कहा। श्रीरामकृष्णदेव ने कहा, 'अरे ! तू स्वयं ही माँ से माँग ले। आज मंगलवार है, माँ अवश्य ही सुनेगी।

नरेन्द्र माँ भवतारिणी के द्वार पर धन माँगने

पहुँचे। परन्तु यह क्या ! माँगते समय बोले, 'माँ ! मुझे भक्ति दो, ज्ञान दो, वैराग्य दो और विवेक दो।"

इसी प्रकार तीन बार वे माँ के द्वार पर गये और भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और विवेक ही माँगा। तब श्रीरामकृष्णदेव अति प्रसन्न हुए और कहा, "अच्छा ! मोटा कपड़ा और मोटा भात तो तुम्हें मिल जायगा।" भगवान् के ईश्वरीय साक्षात्कार को छोड़कर कैसे तुच्छ पैसे की माँग करें। जिस अवस्था में आदमी दुःख से पागल हो जाता है, उस हालत में भी वे धन न माँग सके। यह थी उनकी महानता।

पहले दिन ही अमरीका के शिकागो महा-सम्मेलन में मुख खोलते ही जो सम्मान उन्हें मिला उसे पाकर भी भारतवासियों की दुखी-दीन दशा के लिए रात-रात तड़पते थे।

कन्याकुमारी में उन्होंने भारत का स्वरूप देखा था। भारत मरा नहीं है, अभी जीवित है, केवल कुछ ज्ञान ढँक गया है और उसे जगाने के लिए स्वामीजी ने प्रयत्न किया।

वे अमरीका के गुरु बने। उनसे तकनीकी (Technology) शिक्षा ली और वहाँ वेदान्त का प्रचार किया। भारत लौटकर स्वामीजी ने भारतवासियों के दुःख और रोग दूर करने के लिए रामकृष्णमठ एवं रामकृष्ण मिशन की स्थापना की थी। यह जानते हुए कि वह अब अधिक दिन जीवित न रहेंगे उन्होंने मिशन की स्थापना की।

स्वामीजी ने कहा, "जब किसी की सेवा करते हो तो तुम उसका उपकार नहीं करते, उसे कुछ देते नहीं बल्कि स्वयं धन्य हो जाते हो। ऐसी सेवा करने से अहं-भाव न होगा, ग्लानि मिट जायगी।"

स्वामीजी ने कहा, "धर्म ही तुम्हारा मूलमंत्र है।" अब वह दिन आएगा जब सभी स्वामीजी को सुनेंगे और उनका अनुसरण करेंगे।

यदि तुम मेरी बात सुनो, तो तुम्हें अब पहले अपनी कोठरी का दरवाजा खुला रखना होगा। तुम्हारे घर के पास, बस्ती के पास कितने अभावग्रस्त लोग रहते है, उनकी तुम्हें यथार्थ सेवा करनी होगी। जो पीड़ित है उसके लिए औषधि और पथ्य का प्रबन्ध करो और शरीर के द्वारा उसकी सेवा-शुश्रूषा करो। जो भूखा है उसके लिए खाने का प्रबन्ध करो। तुमने तो इतना पढ़ा-लिखा है, अतः जो अज्ञानी है, उसे वाणी द्वारा जहाँ तक हो सके समझाओ।

—स्वामी विवेकानन्द

स्वामी अद्भुतानन्द की जीवन कथा
(लाटू महाराज की स्मृति कथा)

—चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय

अनुवादक—ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य

रामकृष्ण मठ, नागपुर ।

[विजया दशमी के पुण्य अवसर पर भगवान श्रीरामकृष्णदेव के अन्तरंग शिष्य एवं अनन्य लीला-पार्षद् स्वामी अद्भुतानन्दजी महाराज, जिन्हें प्रेम और आदर से लाटू महाराज भी कहा जाता है, की जीवन कथा को इस अंक से प्रसन्नतापूर्वक हम धारावाहिक रूप में प्रकाशित कर रहे हैं ।

लाटू महाराज श्रीरामकृष्णदेव के एकमात्र गैर-बंगाली शिष्य थे। वे छपरा (बिहार) की महान् आध्यात्मिक विभूति थे। श्रीरामकृष्णदेव की अहेतुकी कृपा से निरक्षरप्राय लाटू महाराज ने अपने भीतर के अव्यक्त ब्रह्म को व्यक्त कर निर्विकल्प समाधि का लाभ किया था। बंगला भाषा में लाटू महाराज से सम्बन्धित पुस्तकों में श्रीचन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय कृत 'श्री श्रीलाटू महाराजेर स्मृति कथा' तथा स्वामी सिद्धानन्द कृत 'सत्कथा' और 'अद्भुतानन्द प्रसंगे' प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। श्रीमत् स्वामी गंभीरानन्दजी महाराज रचित भक्त मालिका में भी लाटू महाराज का लघु परिचय है। अंग्रेजी में स्वामी चेतनानन्दजी द्वारा रचित 'Swami Adbhutananda : Teachings and reminiscences नामक प्रसिद्ध पुस्तक सेंट लुई, मिसौरी, अमेरिका से १९८० में प्रकाशित हुई। किन्तु हिन्दी में उन पर अब तक कोई भी पुस्तक उपलब्ध नहीं है। लाटू महाराज की प्रस्तुत जीवन कथा 'श्री श्री लाटू महाराजेर स्मृतिकथा' का ही हिन्दी रूपान्तर है। इसके रूपान्तरकार हैं—रामकृष्ण मठ, नागपुर के ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य। हमें विश्वास है, यह अनुवाद हिन्दी भाषी पाठकों के एक दीर्घकालीन अभाव की पूर्त्ति कर सकेगा—सं०]

१. वंश परिचय

स्मृति कथा की आवश्यकता, वर्तमान संग्रह का अधूरापन, कुल परिचय तथा ग्राम्य जीवन ।

हम जिनकी स्मृतिकथा का वर्णन कर रहे हैं, वे श्रीरामकृष्ण के एक सेवक, शिष्य तथा अन्तरंग पार्षद् थे। नाट्य-सम्राट् गिरीशबाबू उन्हें 'वेदाग साधु' कहा करते थे तथा प्रसिद्ध कथाकार शरत्बाबू उनके मुख-मण्डल पर श्रीरामकृष्ण की झलक पाकर मुग्ध हुए थे। वे रामकृष्ण संघ के एक उज्ज्वल नक्षत्र थे, जिनकी तपस्या के प्रभाव से संघ गौरवान्वित हुआ है। साधु सिद्धानन्द द्वारा संकलित 'सत्कथा' में उन्हीं के उपदेश लिपिबद्ध हैं। जिस सन्त के उपदेश इतने सरल, प्रांजल व मर्मस्पर्शी हैं उनकी जीवनकथा जानने की उत्कण्ठा किसमें न होगी। इसी उत्कण्ठा से प्रेरित होकर हमने लाटू महाराज की स्मृतिकथा संग्रहित करने का प्रयास किया है।

हमारे इस पुण्यभूमि भारतवर्ष में साधु-सन्तों की नैसर्गिक कृपा निरन्तर ही वर्षित हो रही है। उनकी पुण्यपूत चरणधूलि पाकर भारतभूमि धन्य हुई है। उनकी अमृतवाणी पर विश्व मुग्ध है। उनके अलौकिक कर्तृत्वों पर जगत् के नर-नारी विस्मय से अभिभूत हो रहे हैं। वे ज्ञान में, विद्या में, चिन्तन में, लोकमान्यता में, शक्ति-सामर्थ्य व सार्थकता में विश्ववरेण्य हैं और साथ ही प्रेम-शक्ति व प्रीति में अतुल्य हैं। उन्हीं के पदचिह्नों पर चलकर हमारे लाटू महाराज दुर्लभ साधन गौरव से मण्डित हुए हैं।

श्री लाटू महाराज के संन्यास आश्रम का नाम था— 'स्वामी अद्भुतानन्द'। उनका यह नाम ज्यादा प्रचलित नहीं हुआ। सामान्यतया वे लाटू महाराज के नाम से ही परिचित हैं। बाल्यकाल में वे 'रखतूराम' के नाम से जाने जाते थे।

उनका पैतृक निवासस्थान बिहार के छपरा जिला में था। वहाँ के एक छोटे से ग्राम में एक अज्ञात भेड़पालक के घर जिस दिन उनका जन्म हुआ था उस दिन भला कौन कल्पना कर सकता था कि आगे चलकर यही शिशु स्वनामधन्य लाटू महाराज के नाम से प्रसिद्ध होगा। यदि किसी को इस बात का थोड़ा-सा भी आभास हो पाता, तो वह कम-से-कम इस शिशु के जन्मस्थान, समय, सन्, दिनांक आदि के बारे में कुछ लिख रखता। दुर्भाग्यवश हम उनकी शैशव-गाथा से वंचित हैं। जगत् में जो लोग अपनी साधना के बल पर महान् होते हैं, उनके उद्यम का प्रच्छन्न बीज उनके बाल्यजीवन में ही दिख जाता है। जिनकी बाल्यगाथा अज्ञात रहती है, उनके परवर्ती जीवन की भी अनेक बातें अज्ञान के ही गर्भ में रह जाती हैं। इसीलिए हम अपने लाटू महाराज के जीवन के अनेक तथ्यों से अनभिज्ञ हैं। हमारा ध्यान जबतक उनकी ओर आकर्षित हुआ तब वे प्रौढ़ावस्था में पदार्पण कर चुके थे—संन्यासी हो चुके थे। संन्यास आश्रम की चिरन्तन प्रथा का अवलम्बन कर अपने पूर्वाश्रम के बारे में वे मौन उदासीनता दिखाया करते थे। यदि कभी कोई गुरुभाई कुतूहलवश उनके पूर्वाश्रम की कहानी सुनने को इच्छुक होते तो उत्तर में मैंने लाटू महाराज के मुख से सुना है—"अरे! ईश्वरतत्त्व को छोड़कर क्या तुमलोग मेरी कथा लेकर समय बिताओगे? मेरे बारे में जानने की क्या आवश्यकता है? तुमलोग मुझे झूठमूठ तंग न करो।" यह कहकर वे गम्भीर हो जाते। उनकी इस गम्भीरता में खलल डालकर पुनः वही प्रसंग उठाने में गुरुभाइयों तक का साहस छूट जाता था।

एक बार 'साधु नाग महाशय' ग्रंथ के लेखक श्रीशरत् चन्द्र चक्रवर्ती लाटू महाराज की जीवनी प्रकाशित करने को आग्रही हुए थे। इस पर लाटू महाराज ने उन्हें कहा था—"देखिए शरत् बाबू, आप ये सब इच्छा मत कीजिए—आप हमारे विषय में मत लिखिएगा। मेरी बात भी क्या लिखने की है? ठाकुर, स्वामीजी की बातें लिखिएगा—उससे लोगों का कल्याण होगा। हमारे सम्बन्ध में कुछ लिखना उचित नहीं, समझे?" उसी दिन लाटू महाराज के प्रसंग में शरत् बाबू की लेखनी थम गयी थी।

जो साधु अपने को इतना गोपन रखना चाहे, जिसे अपने बारे में बोलने की आदत न हो, उनकी सर्वांग सुन्दर जीवनी लिखने के लिए उपादान संग्रह करना कितना कष्टसाध्य है! यही कारण है कि हमारी इस स्मृतिकथा में अधूरेपन के चिह्न दृष्टिगोचर होंगे। इस प्रयास में अपने को असहाय जानकर भी हम जो इस कार्य में हाथ डाल रहे हैं, यह सिर्फ उनके गुरुभाइयों व स्नेहपात्रों की अहेतुकी कृपा व आशीर्वाद के फलस्वरूप ही है। उनलोगों ने लाटू महाराज के बारे में जो कुछ बताया है उसे ही हम यहाँ संक्षेप में लिपिबद्ध करने का प्रयास करेंगे।

किसी भी व्यक्ति की जीवनी उसके वंश-परिचय से प्रारम्भ करने की प्रथा है। परन्तु हम जिनकी जीवनी लिखने को अग्रसर हुए हैं, दुर्भाग्यवश उन वंशपावन का वंश-परिचय हमें ज्ञात नहीं। बहुत प्रयास करने के

बावजूद हम उनके माता-पिता का नाम-धाम आदि जानने में समर्थ न हो सके हैं। सिर्फ इतना ही सुनने में आया कि उनके पिता भेड़-पालन आदि कार्य किया करते थे। वे अत्यन्त गरीब थे तथा प्रतिदिन दोनों समय का भर पेट भोजन तक न जुटा पाते थे। दुःख और निर्धनता के साथ संघर्ष करते हुए उनके दिन बीता करते थे। अन्न-वस्त्र का अभाव दूर करने के लिए उन दोनों को ही अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता था, जिसके फल-स्वरूप वे अल्प आयु में ही दिवंगत हो गये। अपनी आयु के पाँचवे वर्ष में प्रवेश करने के पूर्व ही रखतूराम अपने माता-पिता की स्नेहमय गोद से वंचित हो चुके थे।

पितृमातृविहीन रखतूराम अपने निःसन्तान चाचा की गृहस्थी में शामिल हो गये। स्नेहबुभुक्षु चाचा के अगाध वात्सल्य समुद्र में रखतूराम की शैशव-नौका तैरती रही। अब तक हम उनके चाचा के नामधाम आदि से भी परिचित नहीं हैं। उनके काम-काज के बारे में भी हमने विशेष कुछ नहीं सुना (कहते हैं कि बाद के दिनों में वे कलकत्ते के निकट कहीं एक छोटी-सी किराने की दुकान लगाया करते थे)। तथापि हमने यह भी सुना है कि उन दिनों उनके चाचा की आर्थिक अवस्था अपेक्षाकृत अच्छी थी और व्यय की तुलना में आय अधिक हुआ करती थी। परन्तु उनमें फिजूलखर्ची का बड़ा दोष था, जिसके फलस्वरूप कुछ वर्षों के भीतर उन्हें महाजन श्रेणी के एक व्यक्ति को अपना सर्वस्व बेचकर ग्राम त्याग करना पड़ा था।

रखतूराम जबतक चाचा के घर पर थे, तबतक उन्हें कोई कष्ट न था। वे यथेच्छा गाँव के खेतों-मैदानों में घूमा-फिरा करते थे। कभी वे गाय-भेड़ों के पीछे दौड़ते तो कभी संगियों के साथ मन के मौज में खेल कूद किया करते थे। मौका मिलते ही बालक काफी दूर निकल पड़ता था—कभी-कभी तो उसे ढूँढ़ निकालने के लिए चाचा को दूर-दूर के गाँवों तक जाना पड़ता था। इसके लिए चाचा उन्हें कितना ही डाँटा-फटकारा करते। उनके चिन्ताग्रस्त स्नेहवत्सल हृदय को यह समझा पाना कि बालक को डाँटना बेकार है, भला किसके वश की बात थी?

"मैं तो चरवाहों के साथ रहा करता था—समझे .....! वे लोग बड़े ही सरल होते हैं, उनके जैसा सरल न होने से आनन्द नहीं मिलता"—वार्तालाप के बीच एक दिन यह बात उनके मुख से निकल पड़ी। इसी सूत्र के आधार पर हमने उनके बाल्यजीवन का चित्रण करने का प्रयास किया है। अपनी छोटी-सी हृष्ट-पुष्ट आकृति लेकर वे अपने चरवाहे मित्रों के साथ प्रकृति की पाठशाला में चले जा रहे हैं। घनघोर वर्षा की ओर भी वे दृष्टिपात नहीं करते, तेज धूप से भी उन्हें भय नहीं था और कड़ाके की ठंढ़क भी उन्हें विचलित नहीं कर पाती थी। चलते हुए ऊबड़-खाबड़ कण्टकाकीर्ण भूमि की ओर भी उनका ध्यान कुछ खास नहीं जाता था। वन्य दृश्यावली के नैसर्गिक रूप-रस-गन्ध के बीच वे अनन्य मन से खेलने को निकल पड़े हैं। इस खेलकूद के बीच ही उनका बाल्यजीवन बीतता रहा। बचपन में गाँव की पाठशाला में प्रवेश पाने का सौभाग्य न मिलने से खुला आकाशतल ही उनके शिक्षालय के रूप में परिणत हुआ था। इस विद्यालय में न तो पाठ्यपुस्तकें थीं, न ही शिक्षक और न पढ़ाई—था तो सिर्फ प्रत्यक्ष पाठ, ऐसा पाठ जिसमें जीवनसंग्राम में उपयोगी वास्तविक घटनाओं का समावेश रहता है, जिसमें जीवन में सफलता पाने के गोपनीय संकेत हैं, प्रकृति के साथ घनिष्ठता का, अन्तरंगता का भाव रहता है, इस अन्तरंग भाव के फल-स्वरूप हृदय को विभोर करते हुए भजन की यह धुन तरंगायित हो उठती है—"मनुआ रे, सीताराम भजन कर लीजै।"

हमें इस भजन के बारे में पता चला था—दक्षिणेश्वर के गंगातट पर, जहाँ पर निर्जन में प्राण के आवेग में तन्मय होकर उन्होंने इस पंक्ति को गाया था। निकट ही परमहंसदेव खड़े थे। मौन मुग्ध स्तब्धता के साथ भक्त का जीवन-संगीत सुनकर उन्होंने स्नेहपूर्वक कहा था—"अरे! तेरा इसी से हो जायगा।"

उनका बाल्यजीवन इसी प्रकार बीता था। परन्तु अचानक ही चाचा की आर्थिक दुरवस्था के कारण उनका वह स्वप्न भंग हो गया। महाजन के ऋणजाल में पड़कर जिस दिन उनके चाचा गृहविहीन हुए, उस दिन भला किसने सोचा था कि इस विपत्ति के भीतर भी महा-सौभाग्य की सम्भावना निहित हो सकती है? चाचा की विपत्ति ने कैसे और कहाँ रखतूराम के भाग्य का द्वार उन्मुक्त कर दिया था, इसका वर्णन अगले अध्याय में हुआ है।

स्वामी प्रेमानन्दजी के संस्पर्श में

लेखक—स्वामी ओंकारेश्वरानन्द

अनु०—ब्रह्मचारी सत्यचैतन्य

रामकृष्ण मठ, नागपुर।

—तृतीय सर्ग—

कर्मयोग

(१)

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

गीता ३-१९

आज बृहस्पतिवार, दि० ९ दिसम्बर १९१५ ई० का दिन है। रात के साढ़े आठ बजे हैं। मठ के पूर्वोक्त विश्रामकक्ष में बाबूराम महाराज बैठे हुए हैं। अब भजन आरंभ होनेवाला है। एक भक्त तबले का सुर मिला रहे हैं। बाबूराम महाराज ने कहा—'जरा रामप्रसादी भजन होने दो।' सभी उपस्थित लोग स्वर मिलाकर रामप्रसाद का 'डूब दे रे मन काली बले'—यह भजन गाने लगे।

(भावार्थ) रे मन, काली का नाम लेकर हृदय-रूपी रत्नाकर (समुद्र) के अथाह जल में डुबकी लगा। यदि दो-चार डुबकियाँ लगाकर रत्न की प्राप्ति नहीं हुई तो यह न समझ लेना कि रत्नाकर में रत्न नहीं हैं। पूरा दम लगाकर एक ऐसी डुबकी लगा कि तू कुल-कुण्डलिनी के पास पहुँच जाय। ऐ मन, ज्ञानसमुद्र के बीच शक्तिरूपी मुक्ता पैदा होते हैं। यदि तू शिवजी की युक्ति के अनुसार, भक्तिपूर्वक ढूँढ़ेगा तो तू उन्हें पा सकेगा। उस समुद्र में काम आदि छः घड़ियाल हैं जो कि खाने के लोभ से सदा ही घूमते रहते है। तो तू विवेकरूपी हल्दी वदन में चुपड़ ले—उसकी बू से वे तुझे छूएँगे नहीं। कितने ही लाल और माणिक उस जल में पड़े हैं। रामप्रसाद का कहना है कि यदि तू कूद पड़ेगा तो सब-के-सब तुझे मिल जाएँगे।

भजन समाप्त हो जाने के बाद बाबूराम महाराज मधुर स्वर में बारम्बार 'हरिबोल-हरिबोल' कह रहे हैं। हर वर्ण से मानो अमृत झर रहा है। तबला वगैरह यथास्थान रख आने के पश्चात् उपस्थित सब बाबूराम महाराज की वाणी सुनने के लिए मौन बैठे हुए हैं।

इन दिनों नवागत ब्रह्मचारियों में से कोई गायों के लिये घास काटता है, कोई गोशाला साफ करता है तो कोई गोबर के उपले पाथता है । विश्वविद्यालयों में शिक्षित ब्रह्मचारियों को भी इसी प्रकार के कार्यों में लगाया गया है। उनको सम्बोधित कर बाबूराम महाराज कहने लगे :

'कर्म का फल भगवान को समर्पित करते हुए भृत्य के समान रहकर जो भी काम किया जाता है वही महान् कर्म है, और उसीसे चित्तशुद्धि होती है । निष्काम कर्म में छोटा-बड़ा नहीं होता । केवल चित्तशुद्धि के हेतु तो कर्म करना है, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' —फल के प्रति दृष्टि न रखते हुए निःस्वार्थ भाव से काम-काज करते रहो ।

'और सदा मन को रोकना, बीच-बीच में विचार करना कि ठीक-ठीक निःस्वार्थ कार्य हो रहा है या नहीं, बाह्य निःस्वार्थता की ओट में कहीं स्वार्थपरता, अहंकार आदि तो नहीं छिपे बैठे हैं । बहुत सावधानी-पूर्वक कामकाज करना होगा ताकि अपने भीतर स्वार्थपरता न प्रविष्ट हो पाए । जब ऊखली में धान कूटते हैं तब बीच-बीच में देखना पड़ता है कि अच्छी तरह कूटना हो रहा है या नहीं । ठीक इसी प्रकार बीच-बीच में देखना होगा, मन-ही-मन चिन्तन करना होगा कि अपने कर्मों द्वारा मन के भीतर से स्वार्थपरता, द्वेष, ईर्ष्या, आसक्ति, अपवित्रता आदि क्रमशः दूर हो रहे हैं या नहीं ।

'बहुत बड़े-बड़े काम किये किन्तु उनसे अहंकार दूर नहीं हुआ, तो अहंशून्य होकर छोटे-छोटे काम करना उससे कहीं बेहतर है । कर्म से ही बन्धन है और फिर कर्म से ही होती है मुक्ति भी; किन्तु मुक्ति के लिए उसे कुशलतापूर्वक करना होगा । इस कुशलता का नाम ही है योग—"योगः कर्मसु कौशलम् ।" कर्म का उद्देश्य है चित्तशुद्धि और उसकी ओर ध्यान रखने से नाम, यश, लोकनिन्दा इन सबका विचार नहीं रह जाता तथा काम भी ठीक ढंग से सम्पन्न होता है । इस उद्देश्य को भूलकर केवल बाह्य दृष्टि से बड़े-बड़े काम करना यह हमारा आदर्श नहीं है । मनुष्य के साथ तो धोखे-बाजी चल सकती है, किन्तु भगवान जो अन्तर्यामी हैं उनके साथ तो वह नहीं चलेगी । और फिर धोखा दोगे भी तो किसे ? खुद ही धोखे में पड़ोगे, जीवन व्यर्थ होगा ।' कहते कहते वे गाने लगे* —

भावार्थ : 'रे मन, तुम खेती करना नहीं जानते मानवजन्मरूपी ऐसी बढ़िया जमीन व्यर्थ ही पड़ी है, उसमें खेती करते तो सोना उपजता ।

'उस जमीन को काली-नाम का घेरा लगाओ, ताकि फसल सुरक्षित रहे; मुक्त-केशी के इस मजबूत घेरे के पास तो यम भी नहीं फटकेगा । जानते हो कि ऐसी अच्छी जमीन परती पड़ी रही तो आज या सौ सालों के बाद एक दिन वह बेदखल हो जाएगी । अतएव अब तू लगन लगाकर उसे जोतकर फसल क्यों नहीं तैयार कर लेता ? गुरुप्रदत्त बीज डालकर भक्तिवारि से खेत सींचता जा । अगर तू अकेला यह काम न कर सके तो रामप्रसाद को भी अपने साथ ले ले ।

फिर वे कहने लगे, 'इसीलिए तुम लोगों से कहता हूँ कि यदि जीवन सार्थक, सफल बनाना चाहते हो तो निःस्वार्थ बनो, त्यागी बनो, मन-मुख एक करो, मेरी समझ में बस यही एकमात्र उपाय है ।—"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।"

यदि ठाकुर का भाव लेकर किया जाय तो जो गोबर के उपले पाथता है या जो गोसेवा करता है उसका काम पुजारी के काम से किसी प्रकार न्यून नहीं है । यह स्वार्थशून्यता लाने के लिए ही तो मैं तुम लोगों से परिश्रम करा लेता हूँ । यदि कर्म किया ही न जाय तो क्या कभी कर्मत्याग की अवस्था आ सकती है ? उससे तो सिर्फ आलस्य आता है। गीता में भी

---

*रामप्रसादरचित 'मन रे कृषिकाज जानो ना' यह भजन ।

यही बात कही है—"न कर्मणाममारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोश्नुते।" वैसे तो संसारी लोग भी दिनभर परिश्रम करते रहते हैं किन्तु वह उनके अपने तथा परिवार के स्वार्थ के निमित्त होता है। यदि वे इन सांसारिक कामों को भगवद्बुद्धि से करें तो इसीसे उनका बन्धन धीरे-धीरे शिथिल होगा। मगर महामाया का यह खेल भी ऐसा है कि यह क्या आसानी से हो पाता है? सभी बस "मेरा" "मेरा" करते-करते ही तो मरते हैं।

'बिरूपाक्ष (स्वामी विदेहानन्द) को देखो—अब ठाकुर की पूजा करता है, अच्छा पण्डित है। किन्तु पहले मठ में गोसेवा किया करता था। उन दिनों जब वह काशी गया था तो पण्डित होकर भी वह गायों के लिए घास काटता था। उसकी इस निरभिमानता की बात सुनकर स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने उसके बारे में बहुत अच्छा मत प्रकट किया था। मैं खुद भी तो तुम लोगों के साथ उपले पाथता रहता हूँ। वरना सिर्फ भक्तों को पदधूलि देते रहकर क्या अपना जीवन नष्ट करूँ? इसीलिए गोबर मलता हूँ, उपले पाथता हूँ, गोसेवा करता हूँ और ठाकुर की पूजा भी करता हूँ।

'अभिमान रहने से कुछ न होगा। मैं देख रहा हूँ कि तुम लोगों में किसी-किसी को अभिमान है। जब ठाकुर के आश्रय में आये हो तो अधपके क्यों रहोगे? यहाँ आकर सब को अहंकारशून्य, नरम बनना होगा। तुम तो उनके अपने आदमी हो, तुम भला भूखे क्यों रहोगे? भाव, भक्ति, प्रेम से तुमलोग नरम हो जाओ, अहंकार को नष्ट कर डालो। इस वृथा अहंकार ने ही तो जीव को भगवान् से पृथक् कर रखा है।

'वोही नाहं, नाहं, नाहं; तुहूँ, तुहूँ, तुहूँ। "जो कुछ है सो तू ही है।" अहा, ठाकुर कितने निरभिमानी थे! अपने आचरण द्वारा वे जीवों को यह पाठ पढ़ा गये हैं कि किस प्रकार अभिमान-त्याग किया जा सकता है। अहं का नाश करने हेतु वे भिखारियों की जूठी पत्तलें सिर पर ढोकर गंगा जी में फेंक आया करते थे। कभी-कभी तो उन्होंने कालीमन्दिर के पाखाने तक अपने लम्बे बालों से साफ किये थे।

और फिर नाग महाशय* का जीवन देखो—वह तो अभी कुछ ही दिन पहले की बात है। उनमें अहंकार लेशमात्र तक न था। मैं ऐसा ही जीवन पसन्द करता हूँ। नहीं तो अभिमान, अहंकार इन सब को भीतर प्रश्रय देना और बाहर गेरुआ पहनना—छिः छिः। नाग महाशय ने तो गेरुआ नहीं पहना था! मगर भाव, भक्ति, प्रेम में वे कैसे पूर्ण हो गए थे। गिरीश बाबू ने कहा था, "महामाया जब नाग महाशय को बाँधने गयी तो वे इतने छोटे हो गये कि बाँधना असम्भव हुआ।

'ठाकुर से पहली बार मुलाकात होने के बाद कोई तीन-चार दिन बाद एक दिन बागबाजार में मुझे अचानक ही रामदयाल बाबू दिखे। उन्होंने मुझे निकट बुलाकर कहा, "परमहंसदेव ने तुम्हें बुलाया है, एकबार जाओ।" मैंने आश्चर्यपूर्वक कहा, "मुझे बुलाया है! भला किसलिये?" अहा, वे जो इतने दयामय हैं इस बात को तब न जानता था। उसके बाद एक दिन दक्षिणेश्वर गया। उन दिनों भी वे मुझे तू-तुझे आदि सम्बोधनों से नहीं बुलाते थे। पहुँचते ही वे मुझसे कहने लगे, "ये लकड़ियाँ जरा पंचवटी में रख आओ तो।" उस दिन ठाकुर भोजनादि वहीं करने वाले थे। इसी प्रकार वे हम लोगों से परिश्रम करा लिया करते थे।

'कल रात सपने में देखा कि स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) आये हैं उन्हें देखते ही रोते-रोते मैंने उनके चरण पकड़ लिये और कहा कि अब तुम्हें जाने न दूँगा। तुम रहो, तुम्हारे दर्शन से भारतवर्ष फिर जाग उठेगा। फिर महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) के पैर पकड़कर उनसे विनती करने लगा, "महाराज, अब स्वामीजी को मत छोड़ो, बहुत दिनों बाद आये हैं।" फिर स्वामी जी से कहा कि ठाकुर की कृपा से मुझे अनन्त धैर्य और अनन्त शिक्षा मिल रही है।'

रात के साढ़े नौ बजे हैं। रात के भोजन की घण्टी बजी। सब लोग बाबूराम महाराज को प्रणाम कर भोजन करने चल दिये। ★

* [भगवान् श्रीरामकृष्ण के एक महान् गृही शिष्य डा० दुर्गाचरण नाग।]

नारद-भक्ति-सूत्र

—स्वामी वेदान्तानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना ।

नवम अनुवाक

भक्त महिमा

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः ॥६७॥

ऐकान्तिनः (एकान्तिक) भक्ताः (भक्तगण) मुख्याः (श्रेष्ठ) ॥ ६७

एकान्त भक्त श्रेष्ठ होते हैं ॥ ६७

साधना का लक्ष्य होता है—देह, इन्द्रिय, प्राण और मन की चेष्टाओं को इष्टाभिमुखी कर दिवारात्रि ईश्वर का भजन करना। साधक जब इस प्रकार तन्मय—एकान्ती होते हैं; अपने हृदय को निचोड़कर समस्त प्रेम इष्ट के चरणों में अर्पित करते हैं; जब उनके हृदय में पराभक्ति का प्रकाश होता है, तब वे श्रेष्ठ भक्त के रूप में गिने जाते हैं।

एकान्ती भक्तगण गुणातीत होते हैं। उन सबके हृदय में ऐहिकता या स्वार्थ चेष्टा का लेशमात्र नहीं रहता। वे सब मुक्ति की कामना भी नहीं करते हैं।

"भक्त का भाव कैसा होता हैं, जानते हो? 'हे भगवान्, तुम प्रभु हो, मैं तुम्हारा दास हूँ' 'तुम माँ हो, मैं तुम्हारी सन्तान हूँ' फिर 'तुम मेरे पिता या माता हो' 'तुम पूर्ण हो मैं तुम्हारा अंश हूँ'।"

"वे तो सभी जीवों में हैं। तब भक्त किसे कहते हैं? जो उनमें (ईश्वर में) रहता है—जिसके मन, प्राण और अन्तरामा सब ईश्वर में अर्पित हो गये हैं।

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीञ्च ॥६८॥

कण्ठारोधवरोमाञ्चाश्रुभिः (प्रेम की अतिशयता में) (वाक्‌रोध, रोमाञ्च और अश्रुपात के साथ) परस्परं लपमानाः [भक्तगण] (आपस की बातचीत में लिप्त रहकर) कुलानि (वंश समूह को) पृथिवीम् च (एवं जन्मभूमि को) पावयन्ति (पवित्र कर देते हैं) ॥६८

भक्तगण प्रेम की अतिशयता में वाणी के अवरोध, रोमाञ्च और अश्रुपात के साथ परस्पर ईश्वर-प्रसंग की बातचीत में मत्त रहकर स्वयं जिन वंशों में जन्मे हैं उन वंशों एवं अपनी जन्मभूमि को पवित्र कर देते हैं ॥६८

अश्रु, पुलक, कण्ठावरोध, ये सब भक्ति की अतिशयता के लक्षण हैं।

ईश्वर के नाम के स्मरण और लीला-कीर्तन से रोमाञ्च होता है; विगलित-धारा से अश्रुपात होने लगता है। और इस प्रेम के आनन्द का भक्तगण अकेले-अकेले भोग करना पसन्द नहीं करते—आपस में मिलकर वार्तालाप और कीर्तन करते-करते वे सब उन्मत्त हो जाते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्त परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

गी० १०।९

"जिन भक्तों के मन-प्राण मुझ में अर्पित हुए हैं वे परस्पर मेरे विषय में बातचीत और विवेचन कर सर्वदा परम संतोष और आनन्द प्राप्त करते हैं।

"भक्त का स्वभाव गंजेरी-जैसा होता है। गंजेरी गंजेरी को देखकर बड़ा आनन्दित होता है। किसी धनी के आने पर वह बात नहीं करता, किन्तु यदि कोई दरिद्र गंजेरी आ जाता है तो आलिंगन करने लगता है। भक्त का स्वभाव कैसा होता है, जानने हो? 'मैं कहता हूँ, तुम सुनो; तुम कहो, मैं सुनूँगा।' इस प्रकार जब भक्त को भक्त से भेंट होती है, तब वे दोनों धर्मकथा कहते हैं, बड़ा आनन्द प्राप्त करते हैं और हठात् वे अलग होना नहीं चाहते।

भक्तगण केवल आपस में बातचीत कर संतुष्ट रहते है, ऐसा नहीं है। संसार के दुःख से उनके प्राण विचलित हो जाते हैं—भक्तों के हृदय में भक्ति का संचार करने के लिए वे सब सर्वत्र ईश्वर की महिमा का गान करने निकलते हैं।

किसी को पवित्र करेंगे, ऐसा अभिमान उन लोगों में नहीं रहता। विश्वव्यापी इष्ट के प्रकाश का अनुभव कर नित्य दासभाव से वे सब सेवा करते हैं। उन लोगों के निकट जो कोई आता है वह पवित्र हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव को कहते हैं,—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

भा० ११।१४।१६

'जो संसार की किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते, जो समस्त चिन्ताओं को त्यागकर शान्त हो गये हैं, जिनका कोई शत्रु नहीं है, जो सबको समान दृष्टि से देखते हैं, इस प्रकार के भक्त की चरण-धूलि से पवित्र होने के लिए मैं उनके पीछे-पीछे घूमता हूँ।'

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ॥६९॥

(भक्तगण) तीर्थानि (तीर्थों को) तीर्थीकुर्वन्ति (पवित्र करते हैं, तीर्थ के नाम को सार्थकता प्रदान करते हैं) कर्माणि (कर्मों को) सुकर्मी कुर्वन्ति (सुकर्म में परिणत करते हैं)। (शास्त्रों शास्त्राणि को) सच्छास्त्री कुर्वन्ति (सत्शास्त्र के रूप में परिणत करते हैं॥६९॥

भक्तों के संस्पर्श से तीर्थसमूह तीर्थ की मर्यादा प्राप्त करते हैं, उनके द्वारा आचरित कर्म सुकर्म के रूप में गृहीत होते हैं तथा वे जिन शास्त्रों को मानकर चलते हैं, वे सब सत्शास्त्रों के रूप में परिणत होते हैं॥ ६९

भक्तों के संस्पर्श से तीर्थ का माहात्म्य है। वे लोग वहाँ साधना और वास करते हैं जिससे तीर्थ पावनी-शक्ति प्राप्त करते हैं।

साधुभक्तगण जिन कर्मों का अनुष्ठान करते हैं संसार में वे ही सुकर्म के रूप में परिगृहीत होते हैं।

साधकों के अनुभव के ऊपर शास्त्र की प्रतिष्ठा है। अनेक ग्रंथ रचे जाते हैं; किन्तु धर्मविषयक होने पर भी सभी ग्रंथ शास्त्र की मर्यादा नहीं प्राप्त करते। जिन सब ग्रन्थों को वे लोग प्रमाण के रूप में ग्रहण करते हैं अथवा जो वाणी उन लोगों के मुख से निःसृत होती है, केवल वे सब ही शास्त्र के रूप में स्वीकृत होते हैं।

"जहाँ अनेक लोग अनेक दिनों तक, ईश्वर का दर्शन करने के लिए जप, तप, ध्यान, धारणा, प्रार्थना, उपासना करते हैं, वहाँ ईश्वर का प्रकाश निश्चय ही है—ऐसा समझना। उन लोगों की भक्ति से वहाँ ईश्वरीय भाव घनीभूत हो गया है; इसी से वहाँ सहज रूप में ही ईश्वरीय भाव का उद्दीपन और ईश्वर का दर्शन होता है।"

"युग-युगान्तर से कितने ही साधु मक्त सिद्ध पुरुष-गण इन सब तीर्थों में ईश्वर-दर्शन के लिए आये हैं, अन्य सारी वासनाओं को छोड़कर ईश्वर को प्राणों के आवेग से पुकारा है, इसीलिए ईश्वर के सभी जगहों पर समान भाव से रहने पर भी इन सब स्थानों में उनका विशेष प्रकाश है।"

"जिसके प्राणों में भक्ति-भाव है, उसका वह भाव तीर्थ में उद्दीपित होकर और भी बढ़ जाता है। जिस

स्थान पर ईश्वर की कथा होती है वहाँ उनका आविर्भाव होता है, और सारे तीर्थ वहाँ उपस्थित हो जाते हैं।"

भगीरथ द्वारा गंगादेवी को पृथ्वी पर अवतरित होने के लिए अनुरोध करने पर देवी ने आपत्ति प्रकट करते हुए कहा, "मैं पृथ्वी पर अवतरित होना नहीं चाहती। धरती पर मेरे अवतरित होने से मनुष्य मेरे जल में अपने पाप धोया करेंगे। फिर मैं वह पाप कहाँ धोकर निर्मल होऊँगी! उत्तर में भगीरथ ने कहा—

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥
भा० ९/९/६

'जिन लोगों ने इहलोक, परलोक धनसम्पदा और स्त्री-पुत्रादि की कामना का त्याग किया है, जिन सबकी इन्द्रियाँ और मनोवृत्तियाँ शान्त हो गयी है, जो ब्रह्मनिष्ठ हैं एवं संसार की पवित्रता के सम्पादन में रत हैं, जिन सबके हृदय में सर्वपापनाशन हरि सर्वदा विराजमान हैं वे सब साधु व्यक्ति आपके जल में स्नान कर आपके पाप को नष्ट कर देंगे।'

तीर्थयात्रा से लौटे हुए विदुर को महराज युधिष्ठिर कहते हैं,—

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥
भा० १/१३/१०

'असत् लोगों के सान्निध्य से तीर्थ मलिन हो जाते हैं। श्रीहरि को नित्य हृदय में धारण करने वाले आप लोगों की भाँति भगवद् भक्तगण तीर्थों में जाकर उन सब तीर्थों को पुनः तीर्थत्व प्रदान करते हैं।'

भक्तों में यह सामर्थ्य कहाँ से आती है?

तन्मयाः ॥७०॥

[चूँकि वे सब] तन्मयाः (तन्मय हैं), [इसीलिए उन लोगों के संस्पर्श में आकर तीर्थ, कर्म और शास्त्र समूह अपनी अपनी मर्यादा प्राप्त करते हैं] ॥७०

ये उत्तम भक्तगण भगवान् के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते। वे इष्टमय हो जाते हैं। वे सर्वदा इष्ट को हृदय में धारण किये रहते हैं। इसीसे वे सब जहाँ जाते हैं, जहाँ वास करते हैं, उन सब स्थानों में भगवान् की सत्ता का विशेष प्रकाश होता है, उन लोगों के आचरण सदाचार के रूप में परिणत होते हैं—उनके वचन ईश्वर के वचन के रूप में संसार को पवित्र करने की शक्ति धारण कर लेते हैं।

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ॥७१॥

[भक्तों के आविर्भाव से] पितर (पितृ पुरुषगण — पितरगण) मोदन्ते (आनन्दित होते है) देवताः (देवगण) नृत्यन्ति (नृत्य करते हैं) च (एवं) इयं भूः (यह पृथिवी) सनाथा (सनाथा) भवति (होती है) ॥७१

उत्तम भक्तों के आविर्भाव से स्वर्ग मर्त्य और पितृलोक में आनन्द का रेला पड़ने लगता है। किसी के वंश में भक्त का आविर्भाव होने से जीवित पितृगण तो आनन्दित होते ही हैं, परलोक सिधारे हुए पितरगण भी आनन्दित होते हैं। जन्म धारण करने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर देवऋण, पितृऋण आदि रहते हैं—इस सभी ऋणों से मुक्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को यथाविहित कर्मों का अनुष्ठान करना होता है। किन्तु, प्रकृत भक्त समस्त ऋणों, सारे कर्मानुष्ठानों से मुक्त हो जाते हैं।

केवल प्रकृत भक्त ही जगत् का यथार्थ मंगल-विधान कर पाते हैं। भक्त के आविर्भाव के साथ ही उन पर कृपा करने के लिए संसार में भगवान् का विशेष आविर्भाव होता है। इसी से कहा गया है कि भक्त के आविर्भाव से पृथिवी सनाथा होती है।

ईश्वर के परितृप्त होने पर अन्य देवगण भी तृप्त होते हैं।

नास्ति तेषु जाति-विद्या-रूप-कुल-धन-
क्रियादि-भेदः ॥७२॥

तेषु (भक्तों के बीच) जाति-विद्या-रूप-कुल-धन क्रियादि-भेदः (जाति विद्या रूप कुल धन या कर्म के लिए भेद) नास्ति (नहीं है) ॥७२

भक्तों में जाति-विद्या-रूप-कुल-धन या किसी कार्य के आधार पर भेद भाव नहीं होता।

भक्तों की आपस में कोई भेदबुद्धि नहीं रहती—प्रेमास्पद को आश्रय बनाकर वे सब आपस में एक दूसरे के अपने हो जाते हैं। उन सबके चिंतन और प्रयास सर्वदा एक लक्ष्य में नियंत्रित रहते हैं। भेद-भाव का उन लोगों को अवसर कहाँ? भेद-भाव आने पर तो वे सब इष्ट को भूलकर तुच्छ विषयों में बद्ध हो जायेंगे।

"भक्त की जाति नहीं होती। भक्त की कोटि अलग होती है। उन लोगों में जाति के विचार की कोई आवश्यकता नहीं होती। भक्ति होने पर ही देह मन आत्मा सब शुद्ध हो जाते हैं। ईश्वर के नाम लेने से ही मनुष्य पवित्र हो जाते हैं। अछूत जाति का व्यक्ति भक्ति होने पर शुद्ध और पवित्र होता है। भक्ति नहीं रहने पर ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है तथा भक्ति रहने पर चाण्डाल चाण्डाल नहीं है। भक्त होने पर चाण्डाल का अन्न भी खाया जाता है।" क्यों भद नहीं होता है?

यतस्तदीयाः ॥७३॥

यतः (क्योंकि) [भक्तगण] तदीयाः (ईश्वर के स्वजन होते हैं) ॥७३॥

चूँकि भक्तगण भगवान् के स्वजन होते हैं, इसलिए उनलोगों में किसी प्रकार का भेद नहीं होता ॥७३॥

ऐहिक भेद भक्तों में कैसे रहेगा? समस्त ऐहिक भावनाओं को त्यागकर तो एकान्तभाव से उनलोगों ने इष्ट का आश्रय ग्रहण किया है। सब कोई तो उनके अपने लोग हैं। संसार की सभी वस्तुओं एवं व्यक्तियों के ऊपर भक्तों की समदृष्टि रहती है—क्योंकि, संसार में सभी वस्तुएँ इष्ट की हैं—ऐसा ही वे समझते हैं।

★
★★

भगवान् के प्रति किस प्रकार का आकर्षण होना चाहिए? सती का पति की ओर, कृपण का धन की ओर तथा विषयी का विषय की ओर जो आकर्षण होता है, उन तीनों को एकत्र मिलाने पर जितना आकर्षण होता है उतना यदि भगवान् के प्रति हो तो उनका लाभ होता है।

—श्री श्रीरामकृष्ण

पुस्तक समीक्षा

"द रोल ऑफ हिन्दुइज्म इन 'वन वर्ल्ड' आइडियल"

(हिन्दुइज्म बुकलेट सिरीज–नं० २)

लेखक–श्रीमत् स्वामी मुख्यानन्द
आचार्य, एम० पी० टी० सेंटर,
बेलुड़ मठ, कलकत्ता।

[पृष्ठ संख्या-३८; मूल्य-५ रुपये; छात्रों के लिए-२ रुपये]

'विवेक-शिखा' के नवम्बर-दिसम्बर १९८४ अंक में स्वामी मुख्यानन्द के 'द टेन सूत्राज ऑर कार्डिनल प्रिन्सिपुल्स ऑफ हिन्दुइज्म' का एक समीक्षात्मक अनुशीलन प्रकाशित हुआ था। वह 'हिन्दुइज्म बुकलेट सिरीज' की प्रथम पुस्तिका थी और उसी क्रम-माला का दूसरा पुष्प है—'द रोल ऑफ हिन्दुइज्म इन 'वन वर्ल्ड' आइडियल"।

प्रस्तुत पुस्तिका, प्रथमतः १९५० ई० में एक निबंध के रूप में 'प्रबुद्ध भारत' में प्रकाशित हुई जब स्वामी मुख्यानन्द ब्रह्मचारी तुरीय चैतन्य के नाम से परिचित थे। फिर यह पुस्तिका जाफना, श्रीलंका से और ट्रिनीडाड, वेस्ट इंडीज से फरवरी १९५१ में प्रकाशित हुई। अपने वर्तमान विस्तृत एवं परिवर्द्धित रूप में यह जनवरी १९८५ ई० में स्वामी विवेकानन्द के जन्म-दिन पर छपी है।

बीसवीं सदी के इतिहास ने खासकर दो विश्व-युद्धों के बाद, एकमेव, अखण्ड, लयबद्ध जगत् की आवश्यकता अत्यधिक स्पष्ट कर दी है। प्रसिद्ध अमरीकी स्वर्गीय वेण्डेल विल्की की एक समय की रोचक एवं प्रचुर जनप्रिय पुस्तक 'वन वर्ल्ड' तथा यू० एन०, यूनेस्को, हू, आई०एम०एफ०, वर्ल्ड बैंक आदि के इस दिशा में अनेक प्रयासों के बावजूद मानव का भविष्य ही आशारहित नहीं बल्कि वर्तमान भी घोर अवसाद रूप आणविक युद्ध के गहरे काले बादलों से आच्छन्न हो रहा है।

आधुनिक सभ्यता की दुर्दशा यही है कि यह एकतरफा, एकांगी या असंतुलित है। आधुनिक मानव को प्रकृति के रहस्यों का अपार ज्ञान और उसकी शक्तियों के नियमन का सूत्र भी प्राप्त हो गया है। किन्तु भौतिक और बौद्धिक विकास की लय में मानव का नैतिक और आध्यात्मिक विकास नहीं हुआ है। मनुष्य एक भौतिक मानसिक-शारीरिक यंत्रमात्र बनकर रह गया है। अपार शक्तियों को आयत्त करके व्यक्तिगत या राष्ट्रीय सुख-सुविधा के लिए निरंतर संघर्ष करता हुआ वह या उसका राष्ट्र बराबर युद्ध के कगार पर खड़ा रहता है।

आधुनिक मनुष्य ने पहले धर्म की उपेक्षा की थी, जड़वादी प्रवाह में अपने आत्म को खो दिया था। किन्तु महाविनाश की आसन्नता ने उसे धीरे-धीरे आत्मा की खोज में जागरूक बनाया है। वह सच्चे धर्म की खोज में उन्मुख हुआ है। वह एक तर्कसंगत विश्वजनीन आध्यात्मिक अनुभव की खोज में है। परिच्छिन्न करने या

खेमों में बाँटनेवाले धर्म सबकी सुख-शान्ति भी सुरक्षित नहीं कर सकते। यह अनुभव आज के प्रबुद्ध मानव को हो चुका है। अब उस धर्म की आवश्यकता है जो सर्वाश्लेषी, विश्वजनीन और उपदिष्ट ईश्वर की तरह ही असीम और अनंत हो। वह सूर्य की तरह ही सब पर समान रूप से प्रकाशित हो, सभी धर्मों को समान-भाव से देखें। वह मानवमात्र के लिए हो और सबको अपने में निहित ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति के लिए प्रेरणा प्रदान करे। वह एक ऐसा व्यापक मातृ-धर्म हो जिसके लिए अन्य विभिन्न धर्म आध्यात्मिक विकास के ही विभिन्न स्तरों के सूचक हैं।

क्या ऐसा कोई धर्म इस जगत् में है? तो कहना होगा कि सनातन हिन्दू-धर्म ऐसा ही है। भारत तो एक लघुरूप विश्व ही है। यहाँ विभिन्न जातियों, भाषाओं, विश्वासों और रीति-रिवाजों के लोग युगों से रहते आये हैं। और यहाँ यह विश्वजनीन धर्म-भावना युगों से अपना ज्वलंत अस्तित्व रखती आयी है। अगर व्यावहारिक रूप में इस धर्म-चेतना का संवर्द्धन भारत में नहीं हुआ रहता तो इतिहास के इस संघर्ष-संकुल बिन्दु पर विश्व-धर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यही है सनातन-धर्म, मानव-धर्म या हिन्दू-धर्म। यह हजारों वर्षों की खोजों, चिन्तनों, तर्कनाओं तथा ध्यान-साधना के अनवच्छिन्न क्रम में विकसित हुआ है। यह अपनी भावना, चेतना और प्रयोगनिष्ठा के कारण जितना विज्ञान के निकट है उतना तथाकथित रूढ़िवादी धर्मों की तरह नहीं। यह किसी व्यक्ति महापुरुष या मसीहे के द्वारा किसी काल-विशेष में संस्थापित न होकर भारत के समग्र लोगों एवं मनस्वियों के द्वारा हजारों वर्षों से क्रमशः विकसित होता रहा है। यह विचार-व्यवस्थाओं में बन्द न रहकर अपनी प्रयोगनिष्ठा के कारण आधुनिक विज्ञान की तरह उन्मुक्त है।

यह मानव-धर्म वेदाधारित है। किन्तु आध्यात्मिक यात्रा में ये वेद सहायक, पथ-प्रदर्शक मानचित्र की तरह हैं। सच तो यह है कि ऋषि और आप्तकाम महापुरुष वेदों के आदेशों, वर्जनाओं के बाहर जाकर अन्वेषण करते हैं, और उनकी खोज वेदों का अंग बन जाती है। हिन्दुओं के लिए वेद अपरा विद्या है—और परा विद्या तो उसमें उल्लिखित अनंत नित्य सत्य की निजानुभूति है। यह परा विद्या—परम ज्ञान—ही मानव जीवन का लक्ष्य है। परा एवं अपरा विद्याओं की यह विभिन्नता स्वयं वेदों में ही बतायी गयी है। इस तरह हिन्दुओं का धर्म किसी दूरस्थ, जगत रचयिता ईश्वर में विश्वास, या सिद्धान्तों-मतवादों में लगाव भर नहीं है। हिन्दू-धर्म परम आध्यात्मिक सत्य की अदम्य खोज है और जीवन एवं उसके क्रिया-कलापों में उसकी परम पूर्णता को उपलब्ध होने तथा अभिव्यक्त करने की अथक साधना है। यह कोई बंद व्यवस्था नहीं है। यह अध्यात्म जगत में होनेवाली किसी अन्य जाति या लोगों की नयी-नयी उपलब्धियों को सदा ही स्वीकारता और अपने में घुलाता रहा है। धर्म से अलग, आधुनिक विज्ञान में भी प्राप्त सभी प्रामाणिक तथ्यों को यह मानता है। यह मनुष्य के धर्म-निरपेक्ष क्षेत्र की खोजों में भी निष्ठा रखता है।

हिन्दू-धर्म मनुष्य के स्वयं प्रकाश, अविनाशी आत्म पर दृढ़ता से आधारित है। हम ईश्वर को अस्वीकार दे सकते हैं किन्तु निजस्वरूप आत्मा को नहीं नकार सकते।

हिन्दू-धर्म की मूल प्रकृति है वैज्ञानिक। यहाँ धर्म, विज्ञान और कला में किसी प्रकार के विरोधाभास का दर्शन नहीं हैं। इसके उपदेश और इसकी प्रक्रियाओं में विज्ञान की अद्यतन खोजों के साथ भी संगति बैठ जाती है। अर्थ, काम, धर्म एवं मोक्ष के पुरुषार्थों को मान्यता देकर समग्र मानवीय मूल्यों को यह समुचित स्थान प्रदान करता है। यह इस जीवन में ही पूर्ण आध्यात्मिक स्वाधीनता की प्राप्ति का लक्ष्य प्रस्तुत करता है। इस तरह यह इहलौकिक अभ्युदय और पारमार्थिक निःश्रेयस दोनों को महत्त्व देता है।

जाति-प्रथा हिन्दू-धर्म का प्रमुख अंग नहीं है। इसका उद्देश्य तो है मनुष्यमात्र को जाति और मत-

वादिता से ऊपर ईश्वरीय आत्मा में प्रतिष्ठित करना। वर्ण-व्यवस्था तो इसकी मनोवैज्ञानिक समाज-व्यवस्था का ही अंग है। जाति-वर्ण-व्यवस्था की बुराई को लेकर हम इस व्यापक, विश्वजनीन, मानव-धर्म का तिरस्कार नहीं कर सकते।

संक्षेप में हिन्दू-धर्म के सार-स्वरूप को तर्कसंगत ढंग से प्रस्तुत करते हुए स्वामी मुख्यानन्द ने इस संबंध में संसार के प्रख्यात मनीषियों की प्रामाणिक उक्तियों से भी अपने पक्ष को पुष्ट किया है। उन्होंने खासकर आर्थर शॉपेनहावर, मैक्समूलर, पॉल डिसन, रोम्यां रोलाँ, विल डूराँ, ए० सोरोकिन, विल्सन ऑरगैन, आर्नल्ड ट्वायनवी जैसे प्राचीन एवं आधुनिक मनीषियों के उद्धरणों से हिन्दू-धर्म की सनातन विश्वजनीनता और व्यापकतम मानवीय उदारता को उजागर किया है।

इस तरह स्पष्ट है अखण्ड विश्व को विकसित करने के लिए सनातन विश्व-धर्म की आवश्यकता है। वस्तुतः मनुष्य के हृदय में सनातन धर्म की माँग अविनाशी है। इसी कारण हिन्दू-धर्म को आक्रामक रूप से प्रचारित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हिन्दू-धर्म जोर जबर्दस्ती से नहीं फैलता है— यह तो मानव की आंतरिक माँग होने के कारण स्वयं 'संक्रामक' है। यह तो चुप-चुप अनदीखे ही अपने विशाल विस्तार के पथ पर गतिशील है। अपनी आंतरिक प्राणवत्ता से यह स्वतः विकसित होता है।

ट्वायनवी के अनुसार हिन्दू-धर्म के उपदेश वास्तविक हैं, क्योंकि वे अध्यात्म के वास्तविक दर्शन से निस्सृत होते हैं। यह अमर मानव धर्म है और इसका उच्चतम उद्देश्य है समग्र मानव जाति का आध्यात्मीकरण। यह मौन रूप से अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में लगा हुआ है। अखण्ड विश्व के स्वप्न को साकार करने में इसके योगदान की कतई उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

इन महत्वपूर्ण विचार-विन्दुओं को स्थापित करके तीन-चार पृष्ठों में उद्धृत पुस्तकों तथा लेखकों पर नोट्स भी विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किये गये हैं। इन उद्धरणों से तथा उन पर दिये गये नोट्स से पुस्तिका की बौद्धिक उपयोगिता ही नहीं बढ़ती बल्कि इसमें एक विश्वसनीय प्रामाणिकता आ जाती है। आधुनिक युग के बुद्धिजीवियों एवं मनस्वी चिन्तकों के लिए पुस्तिका की सार-वस्तु बार-बार मनन करने के योग्य है। इसकी भाषा सरल होते हुए भी अत्यंत ओजस्वी और प्रभावशाली है। बहुत सारी निष्पत्तियाँ तो महत् सूत्रों की तरह अविस्मरणीय हैं। प्रमुख उपशीर्षकों के दिये जाने से विचार-प्रवाह संयत, स्पष्ट और प्राञ्जल बना रहता है। एकबार उठाकर पढ़ने लगने पर पुस्तक बिना समाप्त किये रखी नहीं जा सकती। छपाई बड़े अक्षरों में, सुन्दर एवं सुपाठ्य है। विचार-विन्दुओं को उजागर करने के लिए आवश्यकतानुसार बड़े एवं छोटे अक्षरों का प्रयोग किया गया है।

पुस्तिका के अंतिम आवरण-पृष्ठ के भीतरी भाग में वेदों की अद्वितीयता का सारगर्भित प्रतिपादन हुआ है। ऊपरी आवरण-पृष्ठ पर स्वामी विवेकानन्द के वे ओजस्वी उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें भारत और हिन्दुओं की महानता स्वर्णाक्षरों में उजागर हो उठी है।

---शितिकंठ बोधिसत्व

छपरा।

★

स्वामी श्रीधरानन्दजी महाराज के प्रवचन

छपरा, स्थानीय रामकृष्ण आश्रम द्वारा आयोजित धर्म सभा में रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, लखनऊ के सचिव श्रीमत् स्वामी श्रीधरानन्द जी महाराज ने ४ अक्टूबर ८५ से ६ अक्टूबर ८५ तक अत्यन्त विचारोत्तेजक, प्रेरक एवं भावपूर्ण आध्यात्मिक प्रवचन देकर स्थानीय नागरिकों को तन्मय कर दिया।

४ अक्टूबर की संध्या को 'श्रीरामकृष्ण और भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति' विषय पर अपना प्रवचन देते हुए स्वामी श्रीधरानन्दजी ने विस्तार से श्रीरामकृष्ण के अवतार के प्रयोजन पर प्रकाश डालते हुए कहा कि भारत की आध्यात्मिक संस्कृति को पुनर्जीवन प्रदान करने के लिए ही रामकृष्ण का अवतरण हुआ था। सभा का आरंभ श्यामकिशोर, प्रभात कुमार तिवारी तथा सुमन कुमार तिवारी के वैदिक शान्ति-पाठ से आरम्भ हुआ।

सारण प्रमंडल के आयुक्त श्रीरमाशंकर तिवारी, आइ. ए. एस. ने सभा का उद्घाटन करते हुए इस बात पर बल दिया कि वर्तमान युवा-वर्ग के बीच श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द विचारधारा के प्रचार-प्रसार की तीव्र आवश्यकता है।

छपरा के जिला एवं सत्र न्यायाधीश श्री ए. एन. के. एन. सिन्हा ने अपने अध्यक्षीय भाषण में श्रीरामकृष्ण के जीवन के विभिन्न मार्मिक प्रसंगों की चर्चा कर उनके जीवन-निर्माणकारी उपदेशों का भी उल्लेख किया। प्रो० हरिकिशोर पांडेय ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

५ अक्टूबर की संध्या को स्वामी श्रीधरानन्द जी के प्रवचन का विषय था 'स्वामी विवेकानन्द और वर्तमान मानव समाज'। जगदम कॉलेज के प्राचार्य सुशील कुमार सिंह ने अध्यक्षता की। स्वामी श्रीधरानन्द जी ने कहा कि कोई भी समाज कभी भी सर्वांशतः शुद्ध और धार्मिक नहीं रहा। स्वामी विवेकानन्द ने श्रीरामकृष्ण से प्रेरणा लेकर मानव समाज को उन्नत बनाने की चेष्टा की। उन्होंने विश्व को धर्म का संदेश दिया। अद्वैत ज्ञान की प्रयोजनीयता बतायी और प्रत्येक जीव को अपने शिवस्वरूप का बोधकर विश्व मंगल के लिए कार्य करने की प्रेरणा दी। प्रो. ललित कुमार सिन्हा ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

६ अक्टूबर को स्वामी श्रीधरानन्द जी ने दो प्रवचन दिये। पहले सत्र में उनके प्रवचन का विषय था Ramakrishna Vivekananda : Their Message to the world". अपने डेढ़ घंटे के धारा प्रवाह प्रवचन में स्वामी श्रीधरानन्द जी ने बताया कि श्रीरामकृष्ण ने अपने भागवत तनु का ही स्वामी विवेकानन्द के रूप में विस्तार किया। श्रीरामकृष्ण विचार थे, विवेकानन्द उन विचारों के क्रियात्मक रूप थे। श्रीरामकृष्ण प्रयोगशाला थे, विवेकानन्द प्रयोगशाला में सिद्ध हुए सिद्धांतों के प्रतिफल। एक ने ही दो रूपों में विश्व मंगल के कार्य किये। स्वामी विवेकानन्द ने सिद्ध कर दिखाया कि प्रेम, ज्ञान, कर्म और राजयोग इनमें से एक या अनेक या सब के द्वारा ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है।

स्थानीय नगरपालिका के अध्यक्ष श्री महेन्द्र प्रसाद सिन्हा, एडवोकेट ने अध्यक्षता की। प्रो० हरिकिशोर पाण्डेय ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

उसी दिन के सांध्य-प्रवचन का विषय था —'मानवता का भविष्य भारतीय अध्यात्म विद्या में निहित है।' अध्यक्ष थे अवकाश प्राप्त जिला न्यायाधीश श्री राजकिशोर सिंह। स्वामी श्रीधरानन्दजी ने भारतीय अध्यात्म विद्या की समन्वयात्मक प्रवृति का विस्तार से विश्लेषण करते हुए बताया कि आज भारत को पश्चिम के विज्ञान एवं भौतिक उपलब्धियों को ग्रहण करते हुए भी अपने अध्यात्म बल को सुरक्षित रखना है तथा पश्चिम को अपनी अध्यात्म-विद्या का दान देकर उसे नवजीवन प्रदान करना है। भौतिक सुखों के अभाव में भारत को आध्यत्मिक एकांगी हो जायगी और अध्यात्म के अभाव में पश्चिम विक्षिप्त हो जायगा। इसीलिए भारत पर एक गहरा दायित्व आ गया है।

आश्रम के सचिव डॉ. केदारनाथ लाभ ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना के सचिव वयोवृद्ध साधु स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज तीनों दिन उपस्थित थे। उन्होंने ५ अक्टूबर को आश्रम में प्रायः १०० दरिद्र नर-नारियों को धोती-साड़ी वितरित की।

प्रत्येक दिन अंत में श्याम किशोर तथा कुमारी आरती ने 'रामकृष्ण शरणम्' का सुमधुर एवं मनोरम स्वर में गायनकर श्रोताओं को भाव-विभोर कर दिया।